श्रीः

ब्रह्मानुचिन्तनम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीतम्

पं० मनोहरलाल शर्मा M. A.

'गुरुभक्तरत्न' द्वारा विरचित

'श्रीओंकारी' हिन्दी व्याख्या सहित

श्रीः

ब्रह्मानुचिन्तनम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीतम्

पं० मनोहरलाल शर्मा M. A.

'गुरुभक्तरत्न' द्वारा विरचित
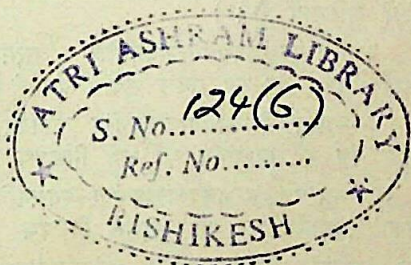
'श्रीओंकारी' हिन्दी व्याख्या सहित

प्रकाशक तथा प्राप्ति स्थान
मनोहरलाल शर्मा
१९२, चित्तरंजन एवेन्यू
कलकत्ता-७

लेखक की अन्य टीकाएं

१--श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'अपरोक्षानुभूतिः' पर 'चन्द्रकान्त प्रदीपिका'—(अद्वैतवेदान्त का यह ग्रंथ स्त्री-पुरुष सबके लिये परम उपयोगी है।)

२—श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूड़ामणिः' पर सप्त - प्रकरणी-ओंकारी - प्रदीपिका'—(अद्वैतवेदान्त का सर्वांग पूर्ण यह गंथ मुमुक्षुओं के लिये अनिवार्य है।)

३—श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'आत्मबोधः' पर 'ओंकारी-प्रदीपिका'—(अद्वैतवेदान्त का यह सरल सुबोध ग्रंथ है।)

४—श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'वाक्यवृत्तिः' पर 'संजीवनी प्रदीपिका'—(इस गंथ में महावाक्य का अर्थ निरूपण किया गया है।)

५—श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'स्वात्मनिरूपणम्' पर 'स्वयं-सिद्धा प्रदीपिका' (आत्मस्वरूप का अद्भुत निरूपण है।)

६—भगवान वेदव्यासप्रणीत 'श्रीरामगीता' पर ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका'—(इस ग्रंथ में भगवान राम ने लक्ष्मण के मोहनिवारण के लिये ब्रह्मज्ञानं दिया है।)

७—कैवल्योपनिषद्भाष्यम् ब्रह्मविद्या तथा योग का अनुपम रत्न। मूलमन्त्र हिन्दी भाष्य सहित। ज्ञान मार्गियों की श्रेष्ठ निधि।

द्वितीयावृत्ति. . .१००० विक्रम सम्वत् २०२६
मूल्य. . . . . . एक रुपया

मुद्रक
युनाइटेड कमर्शियल प्रेस लि०
१, राजा गुरुदास स्ट्रीट,
कलकत्ता-६

ब्रह्मानुचिन्तनम्

अनन्त श्रीविभूषित जगद्‌गुरु श्रीमत्-शंकराचार्य महाराज स्वामी निरंजन देव तीर्थ, गोवर्धन पीठाधीश्वर, जगन्नाथपुरी, उड़ीसा, द्वारा-लिखित :-

(ग्रंथ–समीक्षा)

अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन तीन अंग हैं, और निर्विकल्प समाधि इनका फल है। श्रवण मनन का फल निदिध्यासन (ब्रह्माभ्यास) और निदिध्यासन का पक्व मधुर फल समाधि है। भगवान भाष्यकार ने मुमुक्षुओं के निदिध्यासन के लिये 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' नामक एक सूक्ष्म गंथ की रचना की है। इसके अभ्यास से निर्विकल्प समाधि का लाभ होता है।

ब्रह्म के स्वरूप का उपनिषदों में जैसा निरूपण किया है, उसी के अनुरूप चिन्तन करना, विचार करना, उसके साथ तादात्म्य का प्रयास करना, इस प्रकार की साधन–सामग्री जिस गंथ में उपलब्ध हो, उसे 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' कहते हैं।

गंथ के प्रथम नौ श्लोकों में महावाक्य की महिमा गाई है। दशमें, ग्यारहवें श्लोकों में समाधि के लिये लय-चिन्तन क्रम बताया है, १२ से २० श्लोक तक आत्मस्वरूप निरुपण, महावाक्य की अभ्यास-महिमा तथा ध्यान का फल बताया है। २१ से २५ श्लोक तक निषेधमुख तथा विधिमुख से अभ्यास प्रक्रिया बताई है, और कहा है 'इति ब्रह्मानुचिन्तनम्', यह ब्रह्म चिन्तन की विधि है। २६–२७ श्लोक में विषय को संक्षेप से कहा है, और २८वां श्लोक ध्यान के लिये है।

हमारे प्रिय श्री शर्मा जी वेदान्त शास्त्रों के एक प्रौढ़ और परिमार्जित टीकाकार हैं। पूर्वापर प्रसंग के साथ शर्मा जी की टीका ने इस गंथ को अपूर्व सांगोपांग कलेवर प्रदान किया है। टीका को उतना ही विस्तार दिया है, जितने से कि पाठक की तृप्ति हो जाये। ब्रह्मविद्या जैसे दुर्वच, दुर्बोध विषय को सरलता से समझाना साधारण टीकाकार के बूते से बाहर है। प्रस्तुत टीका प्रामाणिक है।

इन की भाषा मंजी हुई, सरल, स्पष्ट एवं यथार्थ सिद्धान्तवादिनी है। ब्रह्माभ्यास में लगे हुए साधकों के लिये यह टीका संतुष्टि प्रदायिनी है। पण्डितजी का निष्काम श्रम मुमुक्षुवर्ग को उपकृत करेगा, हमारा ऐसा विश्वास है।

भगवान् भाष्यकार के प्रति

जिन मंगलमूर्ति ज्ञानभास्कर भगवान् बाल - शंकर ने
अपनी विद्युचिभ प्रखर प्रतिभा से और वेदसार-
गर्भिणी दिव्यभारती से द्वैतवाद का खंडन कर, वेद-
महासागर से ब्रह्मविद्या का उद्धार किया, और
अद्वैत वेदान्तसिद्धान्त का सिंहनाद किया, वे ही
भक्तानुरक्त परमकारुणिक प्रभु कृपाकटाक्षज्ञान-
दानहेतु दुर्वारसंसारभयार्त मुझ शरणागत
की निजपदपंकज में अप्रमत्त सादर प्रणाम
स्वीकार करें, और मेरी विषय-विषयिणी
रागद्वेषधूलिधूसरित बुद्धि में अपनी
औदार्यगुणशालिनी महती अनुकम्पा
से अलौकिक प्रकाश भरें, जिससे
वह सुसंस्कृत परिष्कृत हो और
मैं उनकी निर्वाणसंदायिनी
गम्भीर गिरा को यथार्थ
समझ सकूं ।

—मनोहरलाल शर्मा ।

—००—

* श्री गुरुदेव के प्रति

जो कुछ भी ब्रह्मविद्या के विषय में मैंने जाना
है, वह आप के चरणकमलों में बैठकर
सीखा है, अतः 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' की
'ओंकारी व्याख्या' आपके पद-
पंकजोंमें अर्पित है। यदि इसमें
कुछ गुणगरिमा हो, तो वह
श्रेय आप का है; यदि
त्रुटि हो तो दोष
मेरा है।

--मनोहरलाल शर्मा।

—००—

* सेवा में—

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महा महामण्डलेश्वर महावेदान्त-केसरी श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्री विभूषित स्वामी ओंकाराश्रम जी महाराज दंडी, ओंकारमठाधिपति ब्रजघाट (गढ़मुक्तेश्वर)।

(ब्रह्मीभूत १९५८)

ॐ

ब्रह्मानुचिन्तनम्

प्राक्कथन

भगवत्पाद आदिगुरु श्री शंकराचार्य द्वारा विरचित 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' नाम की २८ श्लोकों की पुस्तिका में मुमुक्षुओं की साधना के लिये बहुमूल्य सामग्री है। जिन साधकों ने श्री गुरुमुख से अद्वैतवेदान्त विषयक ब्रह्मविद्या का श्रवण किया है, और शिष्टपरिगृहीत युक्तियों से मनन किया है, उनके लिये अगला साधना सोपान निदिध्यासन है। तैलधारावत् निरन्तर ब्रह्माभ्यास का नाम निदिध्यासन है। वेदान्त श्रवण-मनन से संशय और कुतर्क नष्ट होते हैं। निदिध्यासन से विपरीतभावना नष्ट होती है। निदिध्यासन ही परिपक्व होने पर निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करा देता है। निर्विकल्प समाधि में ही आत्मा का साक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त पुनर्जन्म नहीं होता और दुःख की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप कैवल्य मोक्ष होता है।

साधक इन श्लोकों का निरन्तर अभ्यास करें। कहने को तो ये श्लोक हैं, पर वास्तव में श्रुतिरूप ही हैं। परमकारुणिक भगवत्पाद ने मुमुक्षुओं के सुखबोधोपपत्ति के निमित्त श्रुतियों को ही श्लोकों में गुम्फित किया है। मुमुक्षुगण इसका अभ्यास करके परमलाभान्वित होंगे। इसके आश्रय से साधना अचिरकाल में ही पूरी हो जाती है। यद्यपि यह पुस्तिका विस्तार में लघु है, परन्तु अर्थ में गम्भीर और उपयोगिता में महास्त्र-तुल्य है। जो इसका आधार लेंगे, वे जानेंगे।

हमने अपनी व्याख्या में श्लोकों का पदच्छेद, अन्वय, सरल हिन्दी अर्थ तथा समर्थनार्थ श्रुति-स्मृतिप्रमाण भी दिये हैं। श्रीगुरुदेव का प्रसाद होने से इसको 'श्री ओंकारी व्याख्या' नाम दिया है।

कलकत्ता
जनवरी, १९६४

विनीत—
मनोहरलाल शर्मा

ब्रह्मानुचिन्तनम्

श्लोक-सूची

—:०:—

ॐ श्रीगुरवे नमः ।

ब्रह्मानुचिन्तनम्

(श्री ओंकारी-व्याख्या-सहितम्)

अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।
इति स्यान्निश्चितो मुक्तो बद्ध एवाऽन्यथा भवेत् ॥१॥

अन्वय—अहम् परम् ब्रह्म वासुदेवाख्यम् अव्ययम् एव इति निश्चितः मुक्तः, अन्यथा बद्धः एव भवेत् ।

अर्थ—मैं वासुदेव नाम से प्रसिद्ध अविनाशी परम ब्रह्म ही हूँ । इस प्रकार जिसका निश्चय है वह मुक्त है, अन्यथा बद्ध ही है ।

शिष्टों का यह नियम है कि ग्रंथ के आरम्भ में, इस की निर्विघ्न समाप्ति के लिये, गुरु अथवा इष्टदेव को नमस्कार करते हैं, परन्तु इस ग्रंथ में ऐसा नहीं है। तो क्या भगवत्पाद ने मर्यादा का उल्लंघन किया है ? नहीं—नमस्कारस्तुति तीन प्रकार की होती हैं; कायिक, वाचिक और मानसिक । भगवत्पाद ने अपने शरीर के गुरु और इष्ट को मानसिक नमस्कार स्तुति करके ग्रंथ लिखा है, अतः आचार्य पर शिष्टों की मर्यादा-उल्लंघन का आक्षेप उपयुक्त नहीं ।

अथवा यों कह सकते हैं कि किसी भी ग्रंथ के आरम्भ में मंगल का आचरण करना शिष्टमर्यादा है। मंगल तीन प्रकार से किया

जाता है १–नमस्काररूप अथवा २–आशीर्वादरूप या ३–वस्तुनिर्देश-रूप । यथा:—

नमस्क्रियाऽऽशीर्वादश्च वस्तुनिर्देश एव च ।
मंगलं त्रिविधं प्रोक्तं शास्त्रारम्भे विधीयते ॥

इन तीन प्रकार के मंगलों में से यहाँ पर भगवत्पाद ने आरंभ में 'अहमेव परं ब्रह्म' सिद्धान्त कथन करके वस्तु निर्देशरूप मंगलाचरण किया है।

व्याख्या—'अहं ब्रह्मास्मि' यह यजुर्वेद–बृहदारण्यकोनिषद १।४।१० में कथित महावाक्य है। यह महावाक्य शब्द की भागत्याग लक्षणा वृत्ति से जीव और ब्रह्म की-एकता का प्रतिपादन करता है । अहम्—मैं, इसका वाच्यार्थ अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, परतंत्र, अविद्या-विशिष्ट जीव है और इसका लक्ष्यार्थ कूटस्थ चैतन्य प्रत्यगात्मा है। परम्—सर्वोत्कृष्ट, माया से अस्पृष्ट, अतिसूक्ष्म ब्रह्म—बृहद् होने से, आकाश, वायु, अग्नि, जलादि का आधार होने से, सर्वोपाधिविनिर्मुक्त अनन्त, शुद्ध, शिव, शान्त, चैतन्य ब्रह्म। इसके भी दो अर्थ हैं। वाच्यार्थ में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतंत्र मायाविशिष्ट ईश्वर और लक्ष्यार्थ में 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इति श्रुतिः। ब्रह्म त्रिकालावाध्य सत् है, शुद्धबोध, और देश-काल-वस्तु - परिच्छेदरहित अनन्त है। जीव और ईश्वर की एकता वाच्यार्थ में सम्भव नहीं है, परन्तु लक्ष्यार्थ में है । जीव की उपाधि मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या और ईश्वर की उपाधि विशुद्धसत्त्व-प्रधाना माया है । दोनों की उपाधि के बाध से चैतन्यांश में एकता है। अतः दीनदुःखी माननेवाला,

मैं जीव परमार्थ से अनन्तवैभव, मन वाणी का अविषय, निरुपाधिक ब्रह्म ही हूँ।

मैं और कैसा हूँ ?वासुदेवाख्यम्—वसुदेव का पुत्र वासुदेव, उस नाम वाला, भगवान कृष्ण। 'अहमात्मा गुडाकेश' भगवान कृष्ण ने गीता के विभूति योग अध्याय में अर्जुन के प्रति अपने को आत्मा बताया है। श्रीमद्भगवद्गीताध्यान में 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' कह कर सर्वज्ञ भगवान वेदव्यास ने, श्रीकृष्ण को, आत्मा को जगद्गुरु कहा है। आत्मा और गुरु अभिन्न हैं। 'गुरुरेव परं ब्रह्म' गुरु ही परब्रह्म हैं। सर्वभूत जिसमें वास करें ऐसा देव वासुदेव, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म, मैं वासुदेव नाम से प्रसिद्ध ब्रह्म हूँ। 'सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि। भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः।' विष्णु पुराण ६।५।८०। सब भूत उस परमात्मा में बसते हैं, तथा सब भूतों में वह सर्वात्मा वसता है, इसलिए वह वासुदेव कहलाता है। मेरा और क्या लक्षण है ?अव्ययम्—अपरिणामी, अविनाशी। मैं जन्मजरामृत्यु से रहित एकरस हूँ। एव—ही, एव शब्द से मेरा ब्रह्म से भिन्न होना निवारण किया गया है। मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ।

इति निश्चितः—जिसको इस प्रकार निश्चय है कि वास्तवमें मैं अजन्मा अविनाशी ब्रह्म हूँ, ऐसा वह। यह निश्चय आत्मसाक्षात्कार होने पर ही होता है, पहले नहीं। मुक्तः—अहंकार से लेकर देहपर्यन्त सब प्रकार के वन्धनों से मुक्त है। उसकी स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर में सत्यबुद्धि नहीं रहती है। देहेन्द्रियप्राणबुद्धि आदि में अहंता ममता नहीं रहती, अज्ञान हृदयग्रंथि से मुक्त हो जाता है।

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दंडस्य कमण्डलोः।
अज्ञानहृदयग्रंथि—मोक्षो मोक्षो यतस्ततः॥

हृदय की अविद्यारूपी ग्रंथि का नाश मोक्ष है। देह, दंड, कमंडलु का त्याग मोक्ष नहीं है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन से संस्कृत अतिसूक्ष्म ब्रह्माकारवृत्ति से ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला कोई–पुरुषधौरेय ही मुक्त होता है। अन्यथः—अप्रतिबद्ध महावाक्य ही साक्षात्कार करा सकता है, यही मोक्ष का मार्ग है। इस से अन्यथा, भिन्न, कर्मानुष्ठान और उपासना का मार्ग अपनाने वाला बद्धः—अहंकारादिदेहान्त बंधनों से जकड़ा रहता है। शास्त्रविहित वर्णाश्रमधर्मानुरूप कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, मोक्ष नहीं। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन' इति कैवल्योपनिषद ॥३॥ कर्म से, सन्तान से तथा धन से मोक्ष नहीं होता।

भेद उपासना से अन्तःकरण में स्थिरता आती है, मोक्ष नहीं होता एव—ही 'एव' शब्द से अन्यथामार्गानुसारी की बद्धता के अतिरिक्त अन्यगति का बाध किया है भवेत्—रहता है। जीवब्रह्म की प्रत्यक्ष एकता अनुभव करनेवाला मुक्त और न करने वाला संसारकारागृह में बद्ध, पंच विषयों में बंधा रहता है। उनको सत्य जान कर ग्रहण करता है ॥१॥

अहमेव परं ब्रह्म चित्ते निश्चित्य चिन्त्यताम्।
चिद्रूपत्वाद-संगत्वाद-बाध्यत्वात् प्रयत्नतः ॥२॥

अन्वय—अहम् परम् ब्रह्म एव निश्चित्य चित्ते प्रयत्नतः चिन्त्यताम् चिद्रूपत्वात् असंगत्वात् अबाध्यत्वात्।

अर्थ—चैतन्य, असंग और अबाध्य होने से मैं परब्रह्म ही हूँ। इस प्रकार निश्चय कर के प्रयत्नपूर्वक मन में चिन्तन करे।

व्याख्या—अहम् परम्ब्रह्म एव–मैं परब्रह्म ही हूँ, पूर्ववत् निश्चित्य–इस प्रकार गुरुवचन और श्रुतिप्रमाण से निश्चय करके, ब्रह्म के परोक्ष-

ज्ञान से निर्णय करके चित्ते—अन्तःकरण में प्रयत्नतः—सावधानीपूर्वक, प्रमादरहित होकर, निरन्तर अथक प्रयास से, संशयविपर्यय रहित होकर चिन्तयताम्—आत्मचिन्तन करे। मैं ब्रह्म कैसे हूँ ? चिद्रूपत्वात्—बोधरूप होने से 'स्वयंज्योतिः' इति श्रुतिः, यह पुरुष स्वयंप्रकाश है। इसके विपरीत शरीर जड़ और परप्रकाश्य है असंगत्वात्—असंग होने से 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः। यह आत्मा असंग है, जड़ शरीर में संगता, असंगता संभव नहीं। अबाध्यत्वात्—त्रिकाल अबाध्य होने से। मैं आत्मा, साक्षीरूप से, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को जानता हूँ। स्वप्नावस्था में जाग्रत् और सुषुप्ति का, जाग्रदवस्था में स्वप्न और सुषुप्ति का और सुषुप्ति में जाग्रत् और स्वप्नावस्था का बाध हो जाता है। पर मुझ साक्षी आत्मा का बाध नहीं होता, सत्रूप होने से। 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इति श्रुतिः, तैत्तिरीयोपनिषद २।१। ब्रह्म सत् ज्ञान और अनन्त है। 'नाभावो विद्यते सतः' गीता। सत् का त्रिकाल में भी अभाव नहीं होता। इसके विपरीत जाग्रदवस्था का स्वप्न में निराकरण हो जाता है। ॥२॥

जो साधक विचारबल से ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो मंद मुमुक्षु विचारप्रधान नहीं हैं, अर्थात् विचार में समर्थ नहीं हैं, वे कैसे मुक्त हों ? उनके लिये अगले श्लोक में ब्रह्म की अभेद उपासना बताते हैं।

अहमेव परं ब्रह्म न चाहं ब्रह्मणः पृथक्।
इत्येवं समुपासीत ब्राह्मणो ब्रह्मणि स्थितः॥३॥

अन्वय—अहम् परम् ब्रह्म एव, अहम् ब्रह्मणः पृथक् न च इति ब्राह्मणः ब्रह्मणि स्थितः एवं उपासीत।

अर्थ—मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ। इस प्रकार ब्राह्मण ब्रह्म में स्थिर होकर उपासना करे।

पूर्व श्लोक में साध्यपक्ष 'अहमेव परं ब्रह्म' में यद्यपि १—चिद्रूपत्वात्, २—असंगत्वात् तथा ३—अबाध्यत्वात् ये तीन हेतु दिये हैं, जिनके अनुसार उत्तमाधिकारी जिज्ञासु अपने स्वरूप का अनुसंधान कर सकता है, तो भी बुद्धि की मंदता, विषयासक्ति अथवा विलक्षण भावी प्रारब्ध प्रतिबंध के कारण मंद मुमुक्षु विचार करने में समर्थ नहीं होते। उनके लिये भगवत्पाद अभेद उपासना बताते हैं।

व्याख्या—अहम् परम् ब्रह्म एव—मैं परं ब्रह्म ही हूँ, पूर्ववत्। अहम् ब्रह्मणः—मैं ब्रह्म से पृथक् न—भिन्न नहीं हूँ च-चकार से निषेधमुख उपदेश निर्दिष्ट होता है। 'वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च', अद्वैतवेदान्त शास्त्र की यह घोषणा है कि जीव ब्रह्म ही है और समस्त दृश्य जगत् भी ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म से भिन्न क्यों नही हूँ ? ब्रह्म अद्वितीय है, 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः, अतः ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है।

इति—इस प्रकार ब्राह्मणः—यहाँ ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्मवेत्ता नहीं लिया जा सकता, क्योंकि ब्रह्मवेत्ता का कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। उसके लिये उपासना कर्तव्य नहीं। न ही ब्राह्मण का अर्थ वर्ण विशेष लिया जा सकता है, क्योंकि मुमुक्षु अन्य वर्णों में भी हो सकते हैं, इसलिये प्रसंगानुसार ब्राह्मण का अर्थ मंद मुमुक्षु लेना चाहिए। मुमुक्षु दो प्रकार के होते हैं; (१) विचार प्रधान—उत्तम, (२) भावना प्रधान—मंद। अब भावना-प्रधान मुमुक्षु के लिये ब्रह्म की निर्गुणोपासना का उपदेश किया जाता है। किस प्रकार ? ब्रह्मणि स्थितः—

ब्रह्म में प्रतिष्ठित होकर, अर्थात् अपने अन्तःकरण में अपने ब्रह्म होने की भावना करके एवम्--इस प्रकार, अर्थात् 'अहमेव परं ब्रह्म' इसके जप से समुपासीत--सम्यक् प्रकार उपासना करे। ब्रह्म की निर्गुण उपासना भेदबुद्धि से आरम्भ की जाती है, परन्तु इसका फल अभेद है। जब तक उपास्य देव ब्रह्म के गुण, सच्चिदानन्द-रूपता, उपासक में अवतरण न हों तब तक निर्गुणोपासना करे। निर्गुणोपासना और ब्रह्म विचार फलोत्पत्ति में समान हैं। पंचदशी-कार विद्यारण्यमुनि कहते हैं कि अनुभव के अभाव में भी महावाक्य का जप करे ॥३॥

अब ब्रह्मवेत्ता की परम स्वतंत्रता बताते हैं।

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं चैतन्यं च निरन्तरम्।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कथं वर्णाश्रमी भवेत् ॥४॥

अन्वय--सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम् चैतन्यम् च निरन्तरम् तत् ब्रह्म अहम् इति ज्ञात्वा वर्णाश्रमी कथम् भवेत्।

अर्थ--जो सर्वबंधन रहित बोधरूप और अखंड ब्रह्म है, वही ब्रह्म मैं हूँ। इस प्रकार अपने को जान कर कैसे वर्णाश्रमी हो सकता है?

व्याख्या--सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम्--मायाकृत सब उपाधियों से, बंधनों से, स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीररूप उपाधियों से मुक्त, असंबद्ध ब्रह्म, सर्व शब्द से तीनों शरीर ग्रहण करने चाहियें। 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः, आत्मा असंग है, चैतन्यम्--ब्रह्म निर्मल बोधरूप, ज्ञानरूप, 'साक्षी चेता' इति श्रुतिः। आत्मा साक्षी और चैतन्य है। च--और निरन्तरम्--बिना अन्तर, भेद के, अर्थात् निर्भेद, अखण्ड,

एकरस तत् ब्रह्म--इस प्रकार का जो निरुपाधिक ब्रह्म है, अहम्---वही ब्रह्म मैं हूँ।

इति ज्ञात्वा--इस प्रकार अपने को ब्रह्म से अभिन्न जान कर, ब्रह्माकारवृत्ति से निर्विकल्प समाधि में निर्भेद ब्रह्म को अपरोक्ष करके, गुरु शास्त्र द्वारा परोक्ष रूप से जान कर नहीं, वर्णाश्रमी-वर्ण--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र--ये चार वर्ण हैं। आश्रम---ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास---ये चार आश्रम हैं। वर्ण और आश्रम के धर्मों वाला। वर्णाश्रम शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो सर्व उपाधियों से असंग है। मैं तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मा हूँ अतः कथम्--आत्मा वर्णाश्रमधर्मवाला कैसे भवेत्--होए ? आत्मवेत्ता कैसे वर्णाश्रम धर्म से बद्ध हो सकता है ? 'अव्यक्तलिंगो ऽनुषक्तबाह्यः' आत्मवेत्ता का कोई प्रकट चिन्ह नहीं होता, और वह बाह्य पदार्थों में आसक्तिरहित होता है। वह निरंकुश स्वतंत्रता की स्थिति का उपभोग करता है। 'यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः।' कुण्डिकोपनिषद। आत्मा में रमण करने वाला मुनि स्वेच्छा से विहार करे ॥४॥

आगे के दो श्लोक बृहदारण्यक श्रुति के अनुवादमात्र हैं। श्रुति इस भाँति है:--'तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते ऽन्यो ऽसावन्यो ऽहमस्मीति। न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्'। बृहदारण्यक १।४।१०

उस इस ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार जानता कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह सर्व हो जाता है। उसके पराभव में देवता भी समर्थ

नहीं होते, क्योंकि वह उन का आत्मा ही हो जाता है। और जो अन्य देवता की 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है वही नहीं जानता। जैसे पशु होता है वैसे ही वह देवताओं का पशु होता है।

अहं ब्रह्मास्मि यो वेद स सर्व भवति त्विदम्।
नाभूत्या ईशते देवास्तेषामात्मा भवेद्धि सः॥५॥

अन्वय—अहम् ब्रह्म अस्मि, यः वेद, सः तु सर्वम् इदम् भवति। देवाः अभूत्याः न ईशते, हि सः तेषाम् आत्मा भवेत्।

अर्थ—मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार जो जानता है, वह समस्त जगद्रूप ही हो जाता है। उस पर देवता लोग अपनी अभूति से शासन नहीं कर सकते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही होता है।

व्याख्या—अहम् ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ यः वेद—जो इस प्रकार निजरूप को निश्चयपूर्वक ब्रह्मरूप जानता है। जैसे अपने को कोई देवदत्त जानता है, वैसे ही जो अपने को सर्वसंशयरहित ब्रह्म जानता है सः तु—वह आत्मवेत्ता तो, तु शब्द से परोक्षज्ञानी का निषेध किया है सर्वम् इदम् भवति—इदम् रूप से भासने वाला समस्त जगत्, अव्यक्त से लेकर स्थूल पर्यन्त सकल विश्व स्वयं बन जाता है। 'पुरुष एवेदं सर्वम्'—इति श्रुतिः। यह सब जगत् चैतन्यात्मा ही है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इतिश्रुतिः। बृहद० २।४।६ यह जो सब कुछ है, सब आत्मा है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' मुंडक ३।२।९ ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है। 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' इति श्रुतिः। मुण्डक ३।२।११, यह जगत् ब्रह्म ही है। ब्रह्मवेत्ता तदाकार ब्रह्म ही होता है।

देवाः—देवगण-ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र, मरुत, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि महाशक्तिशाली देवगण भी ऐसे ब्रह्मवेत्ता पर अभूत्या न ईशते—अपनी अणिमा गरिमादि सिद्धियों से, विशेष शक्तियों से अभूति का अर्थात्, ब्रह्म रूप सर्वभाव को न होने देने का सामर्थ्य नहीं रखते; फिर औरो की तो बात ही क्या है। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकते। अविद्वानों पर ही देवताओं के विघ्न और अनुग्रह चलते हैं, बोधवानों पर नहीं, क्योंकि बोधवान् की सर्वात्म-भाव दृष्टि रहने से देवताओं का उस ज्ञानी से भेद ही नहीं रहता। ब्रह्मविद्या ने जब अज्ञान का ही नाश कर दिया तो अज्ञान के कार्य देवतादि ब्रह्मवेत्ता की क्या हानि लाभ कर सकते हैं। —क्योंकि, सः वह ब्रह्मवेत्ता, तेषाम्—उन-उन विविध देवगणों का आत्मा भवेत्—आत्मा होता है। गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं 'ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्', ज्ञानवान् तो मेरा अपना आत्मा ही है। शासन अपने से भिन्न पर किया जाता है। अपना आपा कभी अपना अमंगल नहीं करता। ज्ञान-वान विश्वात्मा है, वह देवों में भी अपने को ही देखता है। वह देवताओं का भी आत्मा है, और आत्मा होने से अत्यन्त प्रेमास्पद है।।५।।

अब भेदोपासना करने वालों की निन्दा करते हैं।

अन्योऽसावहमन्योऽस्मीत्युपास्ते योऽन्यदेवताम्।
न स वेद नरो ब्रह्म स देवानां यथा पशुः ॥६॥

अन्वय—असौ अन्यः, अहम् अन्यः अस्मि, इति यः अन्यदेवताम् उपास्ते, सः नरः ब्रह्म न वेद, सः देवानाम् यथा पशुः।

अर्थ—वह अन्य है, मैं अन्य हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है, वह पुरुष ब्रह्म को नहीं जानता। वह देवताओं के लिये पशु—तुल्य है।

व्याख्या—असौ—वह मेरा उपास्य देव अन्यः—मुझ से भिन्न, दूसरा है तथा अहम्—में अज्ञानी जीव उपासक अन्यः अस्मि—अपने उपास्य देव से पृथक् हूँ इति यः—इस प्रकार द्वैतवादी जो पुरुष अन्य-देवताम्—अपने आत्मा से भिन्न सत्ता वाले दूसरे देवता की उपास्ते—भेद उपासना करता है सः नरः—वह मूढ़ उपासक, इदं रूप से इष्ट की उपासना करने वाला ब्रह्म न वेद—ब्रह्म को नहीं जानता। यदि वह इष्ट की 'अहम्' रूप से उपासना करे, तो उसे जान सके। वह भेददर्शी होने से निजरूप को नहीं जानता।

सः देवानाम्—वह मूढ़ देवताओं का यथा पशुः—जैसे किसान का बैल किसान की खेती करता है, भार वहन करता है, यान खेंचता है, वैसे ही भेद उपासना करने वाला देवताओं को स्तुति नमस्कार बलि आदि से तृप्त करता है अतः देवताओं का भरण पोषण करनेवाला भेददर्शी उनके पशुः के तुल्य है। अभेददर्शी महात्मा देवताओं को अपना आत्मा जानता है। अतः वह उनके लिये पशु के तुल्य नहीं है। 'पण्डिताः समदर्शिनः' गीता। ब्रह्मवेत्ता सब में निर्दोष ब्रह्म के दर्शन करते हैं, नामाकार के नहीं। देवता नहीं चाहते कि उनका कोई पशु ब्रह्मवेत्ता हो जाये॥६॥

अहमात्मा न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥७॥

अन्वय—अहम् आत्मा, अन्यः च न अस्मि, अहम् एव ब्रह्म, शोकभाक् न, अहम् सच्चिदानन्दरूपः नित्यमुक्तस्वभाववान् ।

अर्थ—मैं आतमा हूँ, आतमा से भिन्न शरीर नहीं हूँ, मैं आनन्दरूप ब्रह्म हूँ, शोकभागी जीव नहीं हूँ। मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, सदा मुक्त स्वभाववाला हूँ।

व्याख्या—अहम् आत्मा—मैं स्वयंप्रकाश, अविकारी, चैतन्य, आद्यन्तहीन आत्मा हूँ 'अविनाशी वा ऽरे अयमात्मा' इति श्रुतिः। आत्मा अविनाशी है, अन्यः च न अस्मि—मैं आत्मा से भिन्न, पर—प्रकाश्य, विकारवान्, जड़, जन्ममरणधर्मा देह नहीं हूँ। अहम् एव ब्रह्म—मैं स्वयम् ही शुद्धबुद्ध, माया और उसके कार्य से रहित, असंग, निर्लेप, निर्विकार, निरवयव, निरंजन, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म हूँ, शोकभाक् न—दीन दुःखी जीव नहीं हूँ, शोकमोह अन्तःकरण के धर्म हैं, मुझ आत्मा के नहीं, क्योंकि अहम् सच्चिदानन्दरूपः—मैं सत्—त्रिकाल-अबाध्य, चित्-बोधरूप, आनन्द-परम सुख रूप हूँ मैं नित्यमुक्त स्वभाववान्—आदि-मध्य-अन्त से मैं सदा मुक्त स्वभाववाला हूँ अथवा स्व-अपने, भाव-परमार्थ स्वरूप में सदा वान्—अवस्थान करनेवाला हूँ, 'स्वे महिम्नि' इति श्रुतिः, स्वमहिमा में सदा प्रतिष्ठित हूँ। आगे भी कहेंगे, 'आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं' मैं सुषुप्ति-स्वप्न-जाग्रदवस्था में सदा असंग, मायाकल्पित बंधनों से रहित हूँ। मेरा स्वभाव ही नित्यमुक्त है, जैसे जल स्वभाव से ही शीतल है और अग्नि उष्ण। स्वभाव में कारण नहीं खोजा जाता ॥७॥

आत्मवेत्ता निष्पाप होता है।

आत्मानं सततं ब्रह्म संभाव्य विहरन्ति ये।
न तेषां दुष्कृतं किंचिद् दुष्कृतोत्था न चापदः ॥८॥

अन्वय—ये आत्मानम् सततम् ब्रह्म संभाव्य विहरन्ति, तेषाम् किंचित् दुष्कृतम् न, न च दुष्कृतोत्थाः आपदः।

अर्थ—जो अपने को निरन्तर ब्रह्म जान कर विहरण करते हैं, उन को न तो कभी पाप लगता है और न पाप से उत्पन्न हुई आपत्तियाँ आती हैं।

व्याख्या—जो ब्रह्मवेत्ता, आत्मानम्—अपने आप को सततम्—निरन्तर, विस्मृतिरहित ब्रह्म संभाव्य—ब्रह्म जान कर, ब्रह्मरूप अनुभव करते हुए विहरन्ति—विहार करते हैं, विचरते हैं, परेच्छया उपस्थित प्रारब्ध कल्पित अशेष भोगों को भोगते हैं, स्वेच्छा से नहीं, विध्वस्तबंध होने से तेषाम्—उन ब्रह्मवेत्ताओं को किंचित्—किसी काल में भी रंचमात्र दुष्कृतम् न—आत्मवेत्ता के लिए प्रारब्ध द्वारा प्रस्तुत भोग भोगने से पाप नहीं होता। रागद्वेष से शुभाशुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है। आत्मवेत्ता को रागद्वेष नहीं होते, अतः उससे कर्म सम्भव नहीं। जब कर्म ही नहीं, तो पाप कहाँ से हो। 'अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन' इति श्रुतिः। यह आत्मा पुण्य और पाप से असम्बद्ध है। गीता में भी भगवान ने कहा है, 'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥१८।१७॥ जिसको कर्म में अहंकार नहीं है और न जिसकी बुद्धि कर्म में लिपायमान होती है, वह इन लोकों को मार कर भी नहीं मारता (हत्या का दोष नहीं लगता) और न उस घोर कर्मबंधन में फँसता है।

न च—और न ही दुष्कृतोत्थाः आपदः—पाप से उत्पन्न हुई आपत्तियाँ ही उन को होती हैं, निरन्तर आनन्द विभोर होने से। समाधि काल में तो विपत्तियों का भान ही नहीं होता, समाधि से जागने पर जगत्

स्वप्नवत् मिथ्या भासता है, मिथ्या वस्तुओं से विचलित नहीं होते। जगत् में असत् बुद्धि होने से सर्वप्रकारेण माया उनको अनुकूल भासती है। लोकदृष्टि से विपत्तियाँ आने पर भी उनमें उनको आनन्द का ही रस मिलता है, क्योंकि वे नित्यानन्दस्वरूप हो चुके हैं॥८॥

आत्मानं सततं ब्रह्म संभाव्य विहरेत्सुखम्।
क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्मचिन्तनम्।
तन्महापातकं हन्ति तमः सूर्योदयो यथा॥९॥

अन्वय——आत्मानम् सततम् ब्रह्म संभाव्य सुखम् विहरेत्। 'अहं ब्रह्मास्मि' इति आत्मचिन्तनम् यः कुर्यात् तत् महापातकम् क्षणम् हन्ति, सूर्योदयः यथा तमः।

अर्थ—तत्त्ववेत्ता अपने को निरन्तर ब्रह्म जान कर यथेच्छा विहार करे। जो क्षण भर के लिये भी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार आत्मचिन्तन करे, वह महापातक का भी नाश करता है, जैसे उदय होने पर सूर्य का प्रकाश रात्रि के घोर अन्धकार का नाश करता है।

व्याख्या—आत्मानम् सततम् ब्रह्म संभाव्य——अपने को, संशय-विपरीतभावना रहित होकर, निरन्तर सर्वकाल में ब्रह्म जानता हुआ, अनुभव करता हुआ, ब्रह्मवेत्ता सुखम् विहरेत्—यथेच्छा, प्रतिबंधरहित होकर सहज आचरण करे, उसको पाप पुण्य स्पर्श नहीं करते। 'विध्वस्तबंधस्य सदात्मनो मुनेः, कुतः शुभं वाप्यशुभं फलं वा' विवेक चूडामणि॥५४७॥ जिस का शरीराध्यास नष्ट हो चुका है, ऐसे स्व-स्वरूप में अवस्थान करने वाले महात्मा को कर्मों के शुभाशुभ फल कहाँ ? 'अहम् ब्रह्मास्मि' इति—मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार आत्मचिन्तनम्—

आत्मध्यान करता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस महावाक्य की भावना सहित आवृत्तियाँ, आत्मचिन्तन, ब्रह्माभ्यास कहलाता है। अहंकार और दुर्वासना के क्षीण होने पर अन्तःकरण की वृत्ति सूक्ष्म हो जाती है, और इन प्रतिबंधों से रहित होने पर महा-वाक्य आत्मसाक्षात्कार कराने में समर्थ होता है।

यः कुर्यात्—जो ब्रह्माभ्यास करता है तन्महापातकम्—उस अभ्यास के बल से प्राप्त सहस्रों सूर्यवत् महाप्रकाशमान दिव्य आत्म-दर्शन ब्रह्महत्यादि महापापों को क्षणम् हन्ति—तुरन्त नाश करता है। 'अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटिदोषं विनाशयेत्' तेजोविन्दूपनिषद ४।३।६८'मैं ब्रह्म हूं', यह मन्त्र करोड़ों पातकों को नष्ट करता है। समाधि को धर्ममेघ कहा है, उस काल में सहस्रों धाराओं में अमृत बरसता हैं जो समस्त पुण्यपापों के संस्कारों को नष्ट कर देता है। अब दृष्टान्त देते हैं सूर्योदयः यथा तमः-जिस प्रकार कि सूर्य उदय होने पर उस का प्रचण्ड प्रकाश रात्रि के अत्यन्त गाढ़े अन्धकार को भी नष्ट कर देता है। महापातक में प्रयुक्त 'महा' शब्द तम के साथ भी जोड़ लेना चाहिये, अर्थात् महा-तम का भी नाश करता है ॥९॥

अब सृष्टि का उदय और लय–क्रम बताते हैं, दो श्लोकों में।

अज्ञानाद्ब्रह्मणो जातमाकाशं बुद्बुदोपमम्।
आकाशाद्वायुरुत्पन्नो वायोस्तेजस्ततः पयः।
अद्भ्यश्च पृथिवी जाता ततो व्रीहियवादिकम्॥१०॥

अन्वय—ब्रह्मणः अज्ञानात् बुद्बुदोपमम् आकाशम् जातम्, आकाशात् वायुः उत्पन्नः, वायोः तेजः, ततः पयः, अद्भ्यः च पृथिवी जाता, ततः व्रीहियवादिकम्।

अर्थ—ब्रह्म के अज्ञान से बुलबुले के सदृश आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ब्रीहि (अन्न विशेष) जो (यव) आदि अन्न उत्पन्न हुए।

व्याख्या——ब्रह्मणः——मायोपहित ब्रह्म की अज्ञानात्—शक्ति से, अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण स्वरूप को छुपाता है, और विक्षेप आकाश से लेकर देह पर्यन्त सृष्टि की रचना करता है। 'अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव ज्ञेया, यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।' विवेकचूडामणिः ।।११०।। परमेश्वर की अव्यक्त नाम से त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या तीन गुणोंवाली परा शक्ति है, जिससे यह सारा जगत् रचा जाता है। सुन्दर बुद्धिवाले माया का अनुमान इस के कार्य से लगाते हैं, माया अव्यक्त होने से।

ब्रह्म की शक्ति से बुद्बुदोपमम्—बुलबुले के सदृश, बुलबुला सागर से भिन्न नहीं होता, पर भिन्न सा भासता है, उसी प्रकार आकाशम् जातम्—आकाश उत्पन्न हुआ। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति श्रुतिः। उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है। माया की सबसे सूक्ष्म प्रथम कृति आकाश है आकाशात् वायुः उत्पन्नः—आकाश से वायु उत्पन्न हुआ, आकाश वायु से अधिक सूक्ष्म है वायोः तेजः—वायु से अग्नि की उत्पत्ति हुई, वायु अग्नि से अधिक सूक्ष्म है, ततः पयः—अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल अग्नि से स्थूल है, अद्भ्यः च पृथिवी जाता—जल से पृथ्वी उदय हुई, पृथ्वी जल से स्थूल है। इस प्रकार पांच सूक्ष्म महाभूतों की उत्पत्ति अज्ञान से हुई। इन सूक्ष्म भूतों का परस्पर मिलकर पंचीकरण हुआ और स्थूलभूत अर्थात् व्यवहारयोग्य भूत बने। ततः

व्रीहियवादिकम्—स्थूल पृथ्वी से धान, जो, खाद्य अन्न आदि पद से माया का कार्यरूप स्थूल जगत् समझना चाहिये। यहाँ संक्षेप से, सृष्टि रचना का क्रम दिया गया है, केवल उपदेश के लिये, सृष्टि में सत्यबुद्धि उपजाने के लिये नहीं, क्योंकि भगवत्पाद आगे कहेंगे, 'अयं प्रपंचो मिथ्यैव' यह प्रपंच स्वप्नवत् मृषा ही है॥१०॥

अब सृष्टि का लयक्रम समझाते हैं।

पृथिव्यप्सु पयो वह्नौ वह्निर्वायौ नभस्यसौ।
नभोऽप्यव्याकृते तच्च शुद्धे शुद्धोऽस्म्यहं हरिः॥११॥

अन्वय— पृथिवी अप्सु, पयः वह्नौ, वह्निः वायौ, असौ नभसि, नभः अपि अव्याकृते, तत् च शुद्धे, अहम् शुद्धः हरिः अस्मि।

अर्थ—पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश माया में, माया शुद्ध ब्रह्म में, और वही शुद्ध ब्रह्म मैं हरि हूँ।

व्य थिवी अप्सु—जल का कार्य पृथ्वी अपने कारण जल में लय हो जाती है, कारण कार्य अभेद होने से। सुवर्ण का कार्य कुंडल सर्व प्रकार से सुवर्ण ही है। पयः वह्नौ—अग्नि का कार्य जल अपने कारण अग्नि में लय हो जाता है, वह्निः वायौ—वायु का कार्य अग्नि अपने कारण वायु में लय होता है, असौ नभसि—आकाश का कार्य वायु अपने कारण आकाश में लय होता है, नभः अपि अव्याकृते—और माया का प्रथम कार्य आद्यन्तहीन असंग आकाश भी अपने कारण अव्यक्त माया में लय होता है, तत् च शुद्धे—और वह अव्यक्त माया अपने अधिष्ठान निरुपाधिक

ब्रह्म में लय हो जाती है, अहम् शुद्धः हरिः अस्मि—और मैं वही शुद्ध, केवल, निर्द्वय ब्रह्म हूँ। हरि का अर्थ है अविद्या का कार्यसहित हरण करने वाला। ब्रह्मज्ञान के उदय होने पर अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे पूर्व में कहा है, 'तमः सूर्योदयो यथा'।

सृष्टि के लय क्रम को लय चिन्तन भी कहते हैं। इस प्रणालो से कार्य को कारण में लय करते हुए, मूल कारण तक, जिसका कि बाध नहीं किया जा सकता, पहुँचा जा सकता है, और उसी मूल कारण को अपना स्वरूप समझे। यह अभ्यास करते-करते जीव और ब्रह्म की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है और अद्वैत ब्रह्म में बुद्धि स्थिर हो जाती है। जो मंद साधक विचार से ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते, उनके लिये लय चिन्तन भी एक साधन है।

आत्मा ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। उसकी समीपता में उस की सत्तास्फूर्त्ति से चेतनी सी होकर माया सृष्टि की रचना करती है। आत्मा की समीपमात्रता में ही उसका निमित्त कारण है। घट के निमित्त कारण कुम्भकार की भांति आत्मा की निमित्तत्ता नहीं है। आत्मा में, रस्सी में सर्प की न्याईं, सर्व सृष्टि अध्यस्त होने से आत्मा ही सृष्टि का उपादान कारण है। यह सृष्टि चेतन का विवर्त और माया का परिणाम है। जब आदि वस्तु में विकार न आये परन्तु फिर भी किसी कारण से वह दूसरी वस्तु भासे, उसे विवर्त कहते हैं। ईषत् अन्धकार में रज्जु सर्प भासती है, परन्तु रज्जु में विकार नहीं आता, सर्प भासने से रस्सी विषैली नहीं होती। सर्प रज्जु का विवर्त है॥११॥

अहं विष्णुरहं विष्णुरहं विष्णुरहं हरिः।
कर्तृभोक्त्रादिकं सर्वं तदविद्योत्थमेव हि ॥१२॥

अन्वय—अहम् विष्णुः, अहम् विष्णुः, अहम् विष्णुः, अहम् हरिः हि कर्तृभोक्त्रादिकम् तत् सर्वम् अविद्योत्थम् एव ।

अर्थ—मैं विष्णु हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं हरि हूँ, कर्तापन भोक्तापन आदि का सब भाव उस अविद्या से ही उत्पन्न होता है, (जिस से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है)।

व्याख्या—अहम् विष्णुः—मैं कूटस्थ चैतन्यात्मा प्रत्यगात्मा, व्यक्तिगत जीव का चेतन अधिष्ठान विष्णु, व्यापनशील अपरिच्छिन्न सर्वगत ब्रह्म हूँ। तीन बार 'अहं विष्णुः' कहने का अभिप्राय उपाधि रूप तीनों शरीरों के निराकरण करने में है।

व्याप्ते मे रोदसी पार्थ, क्रान्तिश्चाभ्यधिका स्थिता।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ, विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ॥
महाभारत, शान्तिपर्व ३४१।४२-४३।

हे पार्थ ! पृथ्वी और आकाश मुझ से व्याप्त हैं तथा मेरा विस्तार बहुत है। हे पार्थ ! इस विस्तार के कारण ही मैं विष्णु कहलाता हूँ।

अहम् हरिः—मैं ही अविद्या और उसके कार्य का नाश करने वाला हरि हूँ, 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ गीता, १०।११। उन पर अनुग्रह करने के लिए ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में एक ही भाव से स्थित हुआ अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को प्रकाशमय आत्मज्ञानरूप दीपक द्वारा नष्ट करता हूँ। यदि तुम असंग विष्णु हो, तो कर्ताभोक्तापन की प्रतिष्ठा

कहाँ है ? इस पर कहते हैं हि कर्तृभोक्त्रादिकम्—क्योंकि कर्तापन भोक्तापन जो कि बुद्धि के धर्म हैं, आदि पद से संकल्प, जो कि मन का धर्म है, पंच विषय जो कि पंच ज्ञानेन्द्रियों के धर्म हैं, तत् सर्वम्—यह सब दृश्यप्रपंच, जगद्विस्तार अविद्या-उत्थम्— अविद्या से उत्पन्न है, जैसे पूर्व में कहा है 'अज्ञानाद् ब्रह्मणो जातम्', माया और महत्तत्त्व से लेकर देहपर्यन्त संपूर्ण माया का कार्य अनात्मक, तुच्छ असत् और मिथ्या है। कर्तापन भोक्तापन माया में ही हैं आत्मा, में नहीं, निष्क्रिय होने से। इस लिए जनिजरामरणबहुला जगती को देख कर तू दुःखी मत हो, क्योंकि यह मिथ्या है, तू स्वरूप से आनन्द है, तुझ आत्मा में दुःख की गन्ध भी नहीं ॥१२॥

अच्युतोऽहमनन्तोऽहं गोविन्दोऽहमहं हरिः।
आनन्दोऽहमशेषोऽहमजोऽहममृतोऽस्म्यहम् ॥१३॥

अन्वय—अहम् अच्युतः, अहम् अनन्तः, अहम् गोविन्दः, अहम् हरिः, अहम् आनन्दः, अहम् अशेषः, अहम् अजः, अहम् अमृतः अस्मि।

अर्थ—मैं अच्युत, अनन्त, गोविन्द, हरि हूँ। मैं आनन्द हूँ, सब विशेषताओं से रहित हूँ, अजन्मा हूँ, अमर हूँ।

व्याख्या—अच्युत, अनन्त, गोविन्द, हरि ये सब नाम भगवान विष्णु के ही हैं, और उनके विशेष गुणों को निर्दिष्ट करते हैं। अच्युत, अनन्त, गोविन्द—ये तीनों नाम सर्वरोग-शमन करने वाले मंत्र में भी आते हैं। मन्त्र इस प्रकार है 'ओं अच्युताय नमः, ओं अनन्ताय नमः, ओं गोविन्दाय नमः'। अभिप्राय यह है कि जो महान शक्ति-ऐश्वर्य सम्पन्न देवगण हैं और जिनके नाम सुन कर

श्रद्धा उपजती है, वे सब मैं चैतन्य ब्रह्म ही हूँ, विशेष-विशेष उपाधि धारण करने से। मुझ से भिन्न अथवा समान अथवा अधिक कुछ भी नहीं हैं। यम, ब्रह्मा, वरुणेन्द्र, रुद्र आदि देवगण मेरे पारमार्थिक स्वरूप में बुलबुले-मात्र हैं।

अहम् अच्युतः—मैं अच्युत हूँ। छः भावविकारों से रहित होने के कारण अच्युत हूँ, जो अपने स्वरूप से भ्रष्ट न हो वह अच्युत, 'शाश्वतं शिवमच्युतम्' नारायणोपनिषद १३।१। ब्रह्म शाश्वत शिव और अच्युत है। षड्-भावविकार इस प्रकार हैं; 'जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति।' उत्पन्न होना, होना, स्वरूप बदलना, बढ़ना, घटना, नष्ट होना। आत्मा इन विकारों से रहित है।

अहम् अनन्तः—मैं अनन्त हूँ, देश-काल-वस्तु परिच्छेद रहित हूँ,
अहम् गोविन्दः—मैं गोविन्द हूँ। भगवान ने पूर्वकाल में नष्ट हुई पातालगत पृथ्वी को पाया था, इसलिये उन्हें गोविन्द कहते हैं। 'गो' नाम पृथ्वी का, 'विन्द' उस को पाने वाला। एक अन्य भी कथा है: देवराज इन्द्र ने भगवान कृष्ण को कहा था कि मैं देवताओं का इन्द्र हूँ और तुम गौओं के इन्द्र हुए हो, इसलिये भूमण्डल पर लोग तुम्हें गोविन्द कह कर तुम्हारी स्तुति करेंगे। गोविन्द शब्द की एक अन्य प्रकार से भी व्युत्पत्ति है। गौ—यह वाणी है और आप उसे प्राप्त कराते हैं इसलिये, हे देव! मुनिजन आप को गोविन्द कहते हैं। महाभारत और हरिवंश में यह विषय आया है।

भगवान कृष्ण का ही नाम गोविन्द है। गीता के १४वें अध्याय में भगवान ने कहा है, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च'।

१४।२७ में अमृत अव्यय ब्रह्म की मूर्त्ति हूँ । अतः गोविन्द ब्रह्म का ही पर्यावाचक शब्द है। अहम् हरिः—मैं हरि हूँ। अज्ञानरूप कारण के सहित संसार को हरण करनेवाला हरि, मैं अज्ञाननाशक शुद्ध बोध हूँ। अहम् आनन्दः—मैं आनन्द हूँ, 'आनन्दो ब्रह्म' इति श्रुतिः, ब्रह्म आनन्दरूप है।

अहम् अशेषः—जिस से परे अन्य कुछ शेष न हो, वह अशेष, 'सा काष्ठा सा परागतिः' कठोपनिषद १।३।११। आत्मा ही चरम सीमा है, वही अन्तिम लक्ष्य है। 'नेति नेति' कह कर वेद भगवान ने माया और उस के कार्य का बाध किया है। 'नेति नेति' के पश्चात् जो निर्विशेष निर्धर्मक, सर्वोपाधिरहित माया से असंस्पृष्ट अलिंगी भावरूप ब्रह्म है, वही अशेष मैं हूँ।

अहम् अजः—मैं अजन्मा उत्पत्ति रहित हूँ, 'अजो नित्यः' इतिश्रुतिः, ब्रह्म अजन्मा और नित्य है। माया भी तो अजा है, ठीक है, परन्तु; अहम् अमृतः मैं अमर हूँ, नाशरहित हूं। 'ब्रह्मैं वेदममृतम्' इति श्रुतिः। ब्रह्म मृत्यू रहित है। ज्ञान से माया का नाश होता है, ब्रह्म का नहीं। यद्यपि माया अनादि है परन्तु अंत-सहित है, अस्मि—हूं, जितने विशेषण ब्रह्म में घटते हैं, वे सब मेरे ही विशेषण हैं, मैं ब्रह्म ही हूं।।१३।।

नित्योऽहं निर्विकल्पोऽहं निराकारोऽहमव्ययः।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं पंचकोशातिगोऽस्म्यहम् ॥१४॥

अन्वय—अहम् नित्यः, अहम् निर्विकल्पः, अहम् निराकारः, अहम् अव्ययः, अहम् सच्चिदानन्दरूपः, अहम् पंचकोश-अतिगः, अस्मि।

अर्थ—मैं नित्य, निर्विकल्प, आकाररहित, उत्पत्तिनाशहीन, सच्चिदानन्दरूप, पंचकोशातीत हूं।

व्याख्या—अहम् नित्यः—मैं सत् रूप हूँ, 'अजो नित्यः' इति श्रुतिः। आत्मा अजन्मा और नित्य है, मैं सृष्टि के आदि में भी था, मध्य में भी हूं, अन्त में भी हूँगा, मेरा कभी अभाव नहीं है।

अहम् निर्विकल्पः—मैं द्वैतरहित हूँ, 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः। संकल्प विकल्प मन का धर्म है, आत्मा का धर्म नहीं अहम् निराकारः—मैं आकाररहित, अशरीरी, अमूर्त्त हूँ अतः अहम् अव्ययः—मैं सदा एक-रस हूँ, न जन्म लेता हूँ, न बढ़ता हूँ, न बदलता हूँ, न घटता हूँ और न मेरा मरण है, मैं अक्षर हूँ।

अहम् सच्चिदानन्दरूपः—मेरा स्वरूप सत्-त्रिकाल अबाध्य, नित्य, चित्-ज्ञान, बोध, प्रकाश और आनन्द-निरतिशय सुख लक्षणों वाला है। अहम् पंचकोश-अतिगः अस्मि—पंचकोशातीत हूँ, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, ये पांच कोश हैं। अन्नमय कोश स्थूल शरीर को कहते हैं। सूक्ष्म शरीर में प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश सम्मिलित हैं। कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहते हैं। ये कोश जीव की कार्य-उपाधियाँ हैं, और ज्ञानाच्छादक हैं। मैं इन कोशों का प्रकाशक, साक्षी इन से विलक्षण हूँ। मैं इन सब कोशों की अन्तरात्मा, प्रत्यगात्मा हूँ। कोश नाम मियान का है, मियान के भीतर खड्ग रहता है। इन कोशों के आवरण से मैं सब को प्रकाशित नहीं होता। ये कोश अविद्या के कार्य हैं, मैं कोशों का अतिक्रमण करता हूँ॥१४॥

अकर्ताहमभोक्ताहमसङ्गः परमेश्वरः।
सदा मत्संनिधानेन चेष्टते सर्वमिन्द्रियम्॥१५॥

अन्वय—अहम् अकर्ता, अहम् अभोक्ता, असंगः, परमेश्वरः, सदा मत्संनिधानेन सर्वम् इन्द्रियम् चेष्टते।

अर्थ—मैं अकर्ता अभोक्ता साक्षी परमेश्वर हूँ, सदा मेरी सत्ता-प्रकाश की समीपता से सब इन्द्रियाँ चेष्टा करती हैं।

व्याख्या—अहम् अकर्ता—मुझ आत्मा में कर्तापन का अभिमान नहीं है, रजोगुण का धर्म प्रवृत्ति है, मेरा रजोगुण शान्त हो चुका है अतः मुझसे कर्म संभव नहीं, इस लिये मैं अकर्ता हूँ, कर्म से लिपायमान नहीं होता, अहम् अभोक्ता—मुझ में भोक्तापन का अभिमान नहीं। कर्तृ भोक्तृभाव बुद्धि के धर्म हैं, मैं बुद्धि नहीं हूँ, इसलिये भोग मुझ में विकार उत्पन्न नहीं करते। जैसे पूर्व में कहा है, 'कर्तृ भोक्त्रादिकं सर्वं तदविद्योत्थमेव हि।' असंगः–मेरा तीनों शरीरों के साथ, जिनमें पंचकोश भी आ जाते हैं, असंग संग है, क्योंकि मैं इन का चैतन्य साक्षी हूँ, साक्षी में साक्ष्य के धर्म प्रवेश नहीं करते, 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः। परमात्मा असंग है। मेरे सान्निध्य से ही, मेरे प्रकाश से चेतनी होकर ही बुद्धि कर्तृ भोक्तृ-लक्षणा है।

परमेश्वरः—मैं परम ईश्वर हूँ, मेरा शासक कोई नहीं, 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' इति श्वेताश्वतरोपनिषद–६।७। ईश्वरों के उस महा-ईश्वर को।

'नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं,
पुरान्तकोऽहं पुरुषो ऽहमीशः।
अखंडबोधो ऽहमशेषसाक्षी,
निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः॥

कुण्डिकोपनिषद ॥१७॥

मैं नारायण हूँ, नरकासुरका नाश करने वाला हूँ, त्रिपुरदैत्य का संहारक हूँ, मैं औपनिषद पुरुष हूं, ईश्वर हूं, मैं अखंड ज्ञानरूप हूँ, सर्व का साक्षी हूँ, मेरा कोई शास्ता नहीं, मैं अहन्ता-ममता रहित हूँ।

सदा मत्-संनिधानेन—सदा मेरी समीपता से, मेरी शक्ति से चेतनीभूत होकर, अग्नि की समीपता से अग्निवर्ण लोहपिंड की भांति सर्वम् इन्द्रियम्——सब इन्द्रियगण, सामूहिकरूप से एक वचन का प्रयोग किया है, सर्व शब्द से इन्द्रिय के अर्थ में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और चार अन्तःकरण लेने चाहिये। जैसे सूर्यबिम्ब का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके दर्पण में प्रकाशित करने का सामर्थ्य होता है, ऐसे ही आत्मा का प्रतिफलन ग्रहण करके सब इन्द्रियां चेष्टते—अपने अपने व्यापार में प्रवृत्त होती हैं। इन्द्रियां स्वतः जड़ और पर-प्रकाश्य हैं। मेरी ही सत्तास्फूर्त्ति से चेष्टावान हैं ॥१५॥

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन।
स्वभावनिर्मलः शुद्धः स एवाहं न संशयः ॥१६॥

अन्वय———अहम् आदिमध्यान्तमुक्तः, अहम् कदाचन बद्धः न, (यः) स्वभावनिर्मलः सः शुद्ध एव अहम्, न संशयः।

अर्थ——मैं आदि मध्य और अन्त तीनों कालों से मुक्त हूँ, मैं कभी भी बँधा हुआ नहीं हूँ। जो ब्रह्म स्वभाव से ही निर्मल है वही शुद्ध ब्रह्म मैं हूँ, इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या—अहम्——मैं कूटस्थ चैतन्य आत्मा आदिमध्यान्तमुक्तः—— मैं सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में अथवा भूत वर्तमान और

भविष्यत में अथवा सुषुप्ति स्वप्न जाग्रदवस्था में सदा ही मुक्त हूँ अहम् कदाचन—मैं किसी काल, किसी अवस्था में बद्धःन—बंधा हुआ नहीं हूँ। यदि मैं बंधा होता तो जाग्रदवस्था से स्वप्नावस्था में नहीं जा सकता। स्वप्नावस्था में जाग्रत् के स्थूल पदार्थों का अभाव होता है, उन से बंधा हुआ वहीं रहता, परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि मैं साक्षीमात्र हूँ। मैं जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का ज्ञाता हूँ। अतः मैं न कभी बद्ध था, न हूँ, न हूँगा, न कभी होना सम्भव है और न हो सकता हूँ।

(यः) स्वभावनिर्मलः—जो ब्रह्म स्वभाव से ही निर्मल है, माया के गुणों के मल से रहित है, स्वभाव में कारण नहीं खोजा जाता सःशुद्धःएव अहम्—वही शुद्ध निर्गुण, अद्वय, निरुपाधिक ब्रह्म मैं ही हूँ, मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर नहीं हूँ, उनके साक्षी होने से न संशयः—मेरे ब्रह्म होने में संशय नहीं है, इसमें श्रुतिप्रमाण हैं, 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'अहं 'ब्रह्मास्मि' और आत्मावेत्ता महात्माओं का भी यही अनुभव है कि वे यथार्थ स्वरूप से ब्रह्म ही हैं, अतः संशय नहीं करना चाहिये ॥१६॥

यदि तुम्हें अपने ब्रह्म होने में संशय है तो अगले श्लोक में कहे हुए वाक्य का अभ्यास करो।

ब्रह्मैवाहं न संसारी मुक्तोऽहमिति भावयेत्।
अशक्नुवन् भावयंस्तु वाक्यमेतत् सदाभ्यसेत् ॥१७॥

अन्वय——अहम् ब्रह्म एव, संसारी न, अहम् मुक्तः, इति भावयेत्, भावयन् अशक्नुवन् तु एतत वाक्यम् सदा अभ्यसेत्।

अर्थ—मैं ब्रह्म ही हूँ, संसारी नहीं हूं, मैं मुक्त हूं, इस प्रकार भावना करे। यदि यह भावना करने में असमर्थ है, तो इस वाक्य का सदा अभ्यास करे।

व्याख्या—अहम् ब्रह्म एव—मैं स्वयं सद्रूप, चैतन्यरूप, आनन्द रूप ब्रह्म ही हूँ, संसारी न—जननमरणशील, कर्ताभोक्ता, सुखीदुःखी पंच विषयों में बंधा देहाभिमानी भोगोन्मुख संसारी प्राणी नहीं हूँ, क्योंकि अहम् मुक्तः—मैं आदि-मध्य-अन्त सब अवस्थाओं में, सब काल में नित्यमुक्त हूँ, देहाध्यास से रहित हूँ। मैं कभी भी बद्ध न हुआ, न हूँ, न हो सकता, न हूँगा, न होना संभव है, गजराज को कमल तन्तु क्या बांधेगा? इति भावयेत्—इस प्रकार अन्तःकरण में ध्यान करे, भावयन् अशक्नुवन्—मन्द मुमुक्षु होने से यदि तू साधना के आरम्भ में अरुचि, भोगलालसा, आलस्य, विक्षेप शून्यता आदि कारणों से ध्यान करने में असमर्थ है तु—तो एतत् वाक्यम् सदा अभ्यसेत्—इस वाक्य का, 'ब्रह्मैवाहं न संसारी मुक्तोऽहम्' सदा नियम से, अभ्यास कर, जप कर। ध्यान की अपेक्षा जप अधिक सुकर है। यही अभ्यास कुछ काल के उपरान्त ध्यान में परिणत हो जायगा और ध्यान लय में यानी समाधि में डूब जायगा ॥१७॥

अब अगले श्लोक के पूर्वार्ध में अभ्यास की महिमा बताते हैं, और उत्तरार्ध में अभ्यास के लिये प्रेरणा देते हैं।

यदभ्यासेन तद्भावो भवेद् भ्रमरकीटवत्।
अत्रापहाय संदेहमभ्यसेत्कृतनिश्चयः ॥१८॥

अन्वय—यत् अभ्यासेन् तत्-भावः भवेत् भ्रमरकीटवत्, अत्र संदेहम् अपहाय कृतनिश्चयः अभ्यसेत्।

अर्थ—जिस भावना का अभ्यास किया जाय, अभ्यासकर्त्ता को उसी भाव की प्राप्ति हो जाती है, भ्रमरकीट की भांति। इस लिये संदेह त्याग कर दृढ़ निश्चय होकर अभ्यास करे।

व्याख्या—यत् अभ्यासेन—अन्तःकरण की वृत्ति जिस भाव का अभ्यास करेगी, जिसका चिन्तन करेगी, तत्भावः भवेत्—वृत्ति का उसके साथ तादात्म्य हो जायगा, पदार्थ के चिन्तन से वृत्ति पदार्थाकार हो जायगी, शून्य के चिन्तन से वृत्ति शून्याकार हो जायगी, और ब्रह्मचिन्तन से वृत्ति ब्रह्मकार हो जायगी। अब दृष्टान्त देते हैं भ्रमरकीटवत्—भ्रमर किसी अन्य जाति के कीट को उठा कर अपनी कुटी में ले जाता है। वहाँ उसको डंक मारता है और उसके चारों ओर घूं घूं करके घूमता है। वह अन्य जाति का कीट भय से उस भ्रमर का एकाग्र चित्त होकर ध्यान करता है। ध्यान की महिमा से वह अन्य जाति का कीट अपने स्वरूप को त्याग कर भ्रमररूप हो जाता है। अत्र—ध्यान के सामर्थ्य में संदेहम्—संशय अपहाय—छोड़कर कृतनिश्चयः—दृढ़ प्रतिज्ञा करके अभ्यसेत्— अपने ब्रह्म होने का ध्यान करे ॥१८॥

अगले दो श्लोकों में यथाविधि ध्यान योग का फल बताते हैं।

ध्यानयोगेन मासैकाद् ब्रह्महत्यां व्यपोहति।
संवत्सरं सदाभ्यासात् सिद्ध्यष्टकमवाप्नुयात् ॥१९॥

अन्वय—मास-एकात् ध्यानयोगेन ब्रह्महत्याम् व्यपोहति, सम्वत्सरम् सदा अभ्यासात् सिद्धि-अष्टकम् अवाप्नुयात्।

अर्थ—एक मास ध्यानयोग से ब्रह्महत्या पातक दूर होता है, एक साल निरन्तर अभ्यास से आठ सिद्धियों को प्राप्त करता है ।

व्याख्या—मासैकात्—एक महीने के पुरुषार्थ से ध्यानयोगेन—ध्यान के बल से, ध्यान किसका करे ? 'ब्रह्मैवाहं न संसारी मुक्तोऽहमिति भावयेत्' इसका ब्रह्महत्याम् व्योपहति—ब्रह्महत्या का पाप नष्ट हो जाता है, दूर हो जाता है। ब्रह्महत्या जब सवार होती है तो ब्रह्मघाती विक्षिप्त भयभीत हुआ इधर उधर भागता है, पर त्राण नहीं पाता। उस समय ध्यानयोग बैठना प्रायः असम्भव है, परन्तु यदि वह अर्धमृतघाती ध्यानयोग के लिये क्षम हो तो एक महीने के पुरुषार्थ से ब्रह्महत्या का पाप दूर हो सकता है । यहाँ ब्रह्मध्यान की सबलता दिखाना अभिप्राय है, ब्रह्महत्या जैसे घोर दुष्कर्म की प्रोत्साहना नहीं । मोक्षोन्मुख साधक ब्रह्महत्या जैसे घोर पातकों में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता ।

संवत्सरम्—एक वर्ष तक सदा—नियमपूर्वक, बिना परिच्छेद के अभ्यासात्—मैं ब्रह्म हूँ, उत्पत्ति विनाशशील देहधारी नहीं हूँ, मैं नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण परमात्मा हूँ, इस प्रकार ब्रह्माभ्यास करने से सिद्ध्यष्टकम्—सिद्धियों का अष्टक, 'अणिमा महिमा चैव, गरिमा लघिमा तथा । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥' अमरकोष । (१) अणिमा—शरीर को सूक्ष्म कर लेना, (२) महिमा—शरीर को दीर्घ कर लेना, (३) लघिमा—शरीर को हलका कर लेना, (४) गरिमा—शरीर को भारी कर लेना, (५) प्राप्ति—वांछित वस्तु प्राप्त कर लेना, (६) प्राकाम्य—निज

कामना पूरी कर लेना, (७) ईशित्व—उत्पत्ति-पालन-विनाश की शक्ति का होना तथा (८) वशित्व—भूतों को वश में कर लेना, ये अष्ट सिद्धियां है अवाप्नुयात्—आठ सिद्धियां प्राप्त करता है।

कहा जाता है कि ज्ञानमार्ग में भी सिद्धियां आती हैं, पर साधक उनकी ओर दृष्टि नहीं डालते। पंचदशीकार ज्ञान का फल सिद्धि नहीं बताते। ज्ञान का फल अज्ञान का नाश है। सिद्धियां तप का फल हैं। जिन के निष्काम और सकाम दोनों प्रकार के तप होते हैं उन को निर्मल बोध तथा सिद्धियां दोनों ही प्राप्त होते हैं। इसलिये ज्ञान संबंध में भगवत्पाद के इन वचनों को रोचक भी माना जा सकता हैं। सिद्धियों के लाभ से आकृष्ट होकर साधक ज्ञानमार्ग में संलग्न होंगे। साधना काल में उन्हें यह रहस्य व्यक्त हो जायगा कि सिद्धियां भी द्वैत में ही सम्मिलित हैं और प्रपंच का अंग होने से असत्, अनात्मक हैं ॥१९॥

यावज्जीवं सदाभ्यासाज्जीवन्मुक्तो भवेद्यतिः ।
एवं हि योऽभ्यसेत् सम्यगेकात्मपरमात्मनौ ॥२०॥

अन्वय—यः यतिः एवम् हि एकात्मपरमात्मनौ यावत् जीवम् सम्यक् अभ्यसेत् (सः) सदा अभ्यासात् जीवन्मुक्तः भवेत्।

अर्थ—इस प्रकार जो सन्यासी आत्मा और ब्रह्म की एकता का भले प्रकार अभ्यास करता है, वह आजीवन सदा अभ्यास के सामर्थ्य से जीवन्मुक्त हो जाता है।

व्याख्या—यः यतिः—जो सन्यासी श्रवण-मनन कर चुका है, एवम् हि—इस प्रकार निश्चय से जैसा कि पूर्व श्लोकों में कहा है

एकात्मपरमात्मनो ––जीव और ब्रह्म की एकता का सम्यक्–भले प्रकार, एकाग्रचित्त होकर आदर सहित यावत् जीवम्––जब तक जीवित रहे अर्थात् जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो, मन वासना अहंकार का जब तक अशेष नाश न हो अभ्यसेत्––निदिध्यासन करता है, वह सन्यासी सदा––अहर्निश, स्नान भोजन त्याग कर भी, आनिद्रा अभ्यासात्––निदिध्यासन के परिपक्व होने पर जीवन्मुक्तः भवेत्–– प्राणधारण रखते हुए भी अज्ञानहृदयग्रंथि से, देहाध्यास से, संसारबंधन से मुक्त हो जाता है, ।।२०।।

अब अगले तीन श्लोकों में निषेधमुख से ब्रह्माभ्यास का प्रकार बताते हैं ।

नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि तथैव च।
न मनोऽहं न बुद्धिश्च नैव चित्तमहंकृतिः ।।२१।।

अन्वय––अहम् देहः न, प्राणः न च, तथा एव इन्द्रियाणि न च, अहम् मनः न, बुद्धिःन च, चित्तम्, अहंकृतिःन एव।

अर्थ––मैं देह नहीं हूँ और न ही प्राण हूँ, और उसी प्रकार इन्द्रियगण भी नहीं हूँ, न मन हूँ, न बुद्धि हूँ और न ही चित्त और अहंकार हूँ।

व्याख्या–अहम् देहः न––मैं स्थूल देह नहीं हूँ, विकारवान, जड़ परप्रकाश्य होने से तथा अनेकाङ्गोपाङ्ग युक्त होने से । सूक्ष्म शरीर भी नहीं हूँ, चञ्चल तथा अनेकतत्त्वयुक्त होने से । मैं कारण-शरीर भी नहीं हूँ, अचेतन होने से प्राणः न च––मैं प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान पंचप्राण नहीं हूँ, चञ्चल और जड़ होने से तथा एव

इन्द्रियाणि न च——जैसे मैं देह और प्राण नहीं हूँ, वैसे ही श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका पंच ज्ञानेन्द्रियां तथा वाणी, हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ पंच कर्मेन्द्रियां भी नहीं हूँ, क्योंकि मैं इन सब का साक्षी हूँ, मेरा साक्षी कोई नहीं है। अब अन्तःकरण का निराकरण करते हैं।

अहम् मनः न——मैं अन्तःकरण की संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति मन भी नहीं हूँ, विकारी होने से बुद्धिः न चः—और न ही अन्तःकरण की निर्णयात्मक वृत्ति बुद्धि हूँ, जड़ होने से। आत्मा के प्रतिबिम्ब ग्रहण करने से बुद्धि चेतन सी भासती है, स्वयं-ज्योति नहीं है, चित्तम् अहंकृतिः न एव——अन्तःकरण की इष्टचिन्तन करने वाली वृत्ति चित्त, स्मृति और शरीर इन्द्रिय प्राण आदि में अभिमान करने वाली वृत्ति अहंकार भी नहीं हूँ, दोनों ही परप्रकाश्य होने से। 'एव' शब्द का प्रयोग किसी अवस्था, काल में इनके आत्मा होने का निषेध करता है॥२१॥

अब पंचमहाभूत और उनकी तन्मात्रा पंच विषयों का निराकरण करते हैं।

नाहं पृथ्वी न सलिलं न च वह्निस्तथानिलः।
न चाकाशो न शब्दश्च न च स्पर्शस्तथा रसः॥२२॥

अन्वय——अहम् पृथ्वी न, सलिलम् न, वह्निः तथा अनिलः न च, आकाशः न च, शब्दः न च, स्पर्शः तथा रसः न च।

अर्थ——न मैं पृथ्वी, न जल, न अग्नि, न वायु और न आकाश महाभूत हूँ और न ही शब्द, स्पर्श तथा रस हूँ।

व्याख्या—अहम् पृथ्वी न—मैं जल का कार्य पृथ्वी नहीं हूँ सलिलम् न—अग्नि का कार्य जल मैं नहीं हूँ, वह्नि तथा अनिलः न च—मैं वायु का कार्य अग्नि, और आकाश का कार्य वायु भी नहीं हूँ, आकाशः न च—और न ही माया का कार्य आकाश हूँ। पंच महाभूतों का निषेध करके अब उनकी पंच तन्मात्राओं (विषयों) का निषेध करते हैं। शब्दः न च—मैं आकाश का धर्म शब्द नहीं हूँ, स्पर्शः तथा रसः न च—मैं वायु का धर्म स्पर्श नहीं हूँ, मैं जल का धर्म रस नहीं हूँ ॥२२॥

नाहं गन्धो न रूपं च न मायाहं न संसृतिः ।
सदा साक्षीस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ॥२३॥

अन्वय—अहम् गंधः न, रूपम् न च, अहम् माया न, संसृतिः न, सदा साक्षी, स्वरूपत्वात्-शिवः केवलः एव अस्मि ।

अर्थ—न मैं गंध हूँ न रूप, न माया हूँ और न ही संसार हूँ। मैं सदा साक्षी हूँ और स्वरूप से शिव केवल अद्वितीय ब्रह्म हूँ।

व्याख्या—अहम् गंधः न—मैं घ्राण का धर्म गंध नहीं हूँ रूपम् न च—नेत्र का धर्म रूप नहीं हूँ। यहाँ तक विषयों का निराकरण किया है। अब माया और उसके कार्य का भी निराकरण करते हैं। अहम् माया न—मैं परमेश्वर की शक्ति माया भी नहीं हूँ, संसृतिः न—माया का कार्य उत्पत्तिविनाशशील जगत् भी नहीं हूँ। इस प्रकार देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण, पंचमहाभूत, उनकी पंच तन्मात्रा, माया और माया का कार्य जगत् इन सब का निराकरण करके अपना स्वरूप बताते हैं। सदा—जब तक देहप्राणेन्द्रियादि साक्ष्य रूप से

रहते हैं तब तक साक्षी---मैं इन सब का साक्षी हूँ। साक्ष्य की अपेक्षा से ही साक्षी है। स्वरूपत्वात्—यथार्थ स्वरूप से, परमार्थ में शिवः—मैं आत्मा केवलः एव—विजातीय-सजातीय-स्वगत भेदशून्य, मन वाणी का अविषय, अव्यवहार्य निर्गुण ब्रह्म ही हूँ, मेरा साक्षी होना भी केवल उपदेश के लिये ही है ॥२३॥

मैं सर्वाधिष्ठान चैतन्य हूँ।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्मास्म्यहमद्वयम् ॥२४॥

अन्वय—मयि एव सकलम् जातम्, मयि सर्वम् प्रतिष्ठितम्, मयि सर्वम् लयम् याति, तत् अद्वयम् ब्रह्म अहम् अस्मि।

अर्थ---मुझ में ही जगत् उत्पन्न हुआ है, मुझ में सब प्रतिष्ठित है, और मुझ में ही लय होता है। वही अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ।

व्याख्या---यह श्लोक कैवल्योपनिषद् में १९ वाँ मन्त्र है। यहाँ आत्मा की सर्वाधिष्ठानता दिखाते हैं। ईषत् अन्धकार में रज्जु का वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं देता, और वह सर्प भासता है। यदि सर्प की कभी उत्पत्ति हुई है तो वह रज्जु से हुई है, यदि सर्प कि कहीं प्रतिष्ठा है तो वह रज्जु में ही है और यदि उस सर्प का कहीं विनाश है तो वह रज्जु में ही है। यह विश्व ब्रह्म का विवर्त और माया का विलासमात्र है। मयि सर्वम् जातम्—मुझ सर्वाधिष्ठान चैतन्यात्मा से ही अव्यक्त माया से लेकर स्थूल पर्यन्त समस्त जगद्विस्तार उत्पन्न हुआ है, अध्यस्त है, मयि एव सकलम् प्रतिष्ठितम्---मुझ चैतन्यात्मा में ही यह जगत प्रतिष्ठित है, मैं ही इसका आधार हूँ,

जैसे सर्प का आधार रज्जु मयि सर्वम् लयम् याति—अधिष्ठान का बोध होने पर अध्यस्त वस्तु विलीन हो जाती है, 'अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपंचः शून्यताम् व्रजेत्' अधिष्ठान का सही स्वरूप विदित होने पर जगत् शून्यता को, विनाश को प्राप्त हो जाता है। जगत् के अधिष्ठान मुझ ब्रह्म का बोध होते ही यह अनहुआ जगत् मुझ में लय हो जाता है। जो ब्रह्म सृष्टि की रचना-प्रतिष्ठा-लय का कारण है तत् अद्वयम् ब्रह्म—वही अद्वितीय ब्रह्म अहम् अस्मि—मैं हूँ।

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं सर्वाकारं सर्वगं सर्वशून्यम्।
नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं, ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥

विवेकचूडामणि ॥५१४॥

जो सर्व का आधार है, सर्व वस्तु का प्रकाशक है, सर्व का आकार है, जो सब देश-काल-वस्तु में व्याप्त है, सर्व से रहित है, नित्य, केवल, अचल, भेदरहित अद्वितीय ब्रह्म है वही मेरा स्वरूप है ॥२४॥

सर्वज्ञोऽहमनन्तोऽहं सर्वेशः सर्वशक्तिमान्।
आनन्दः सत्यबोधोऽहमिति ब्रह्मानुचिन्तनम् ॥२५॥

अन्वय—अहम् सर्वज्ञः, सर्वशक्तिमान्, सर्वेशः, अहम् अनन्तः, अहम् आनन्दः, सत्यबोधः, इति ब्रह्मानुचिन्तनम्।

अर्थ—मैं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वेश्वर हूँ, मैं अनन्त हूँ, मैं आनन्द-रूप सद्रूप ज्ञानरूप हूँ। इस प्रकार यह ब्रह्मचिन्तन होता है।

व्याख्या—अहम् सर्वज्ञः—मैं ब्रह्म ही अल्पज्ञ अज्ञानी जीवों के लिये माया उपाधि से सर्वज्ञ ईश्वर हूँ। माया विशुद्धसत्त्वप्रधाना होने से स्वच्छ है अतः माया उपाधि से ईश्वर सर्वज्ञ है। इसके विप-

रीत मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या जीव की उपाधि होने से जीव अल्पज्ञ है।

सर्वशक्तिमान्—सर्वज्ञ होने से मैं सर्वशक्तिसम्पन्न हूँ, 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' इति श्वेताश्वतरोपनिषद ६।८। ब्रह्म की पराशक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है, ज्ञान बल क्रिया—ये ब्रह्म की स्वाभाविक शक्तियाँ हैं।

सर्वेशः—मैं सर्वशक्तिमान ईश्वर होने से सब का स्वामी हूँ, 'न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके' इति श्वेताश्वतरोपनिषद' ६।९। लोक में ब्रह्म का कोई स्वामी नहीं है। मेरा शासक कोई नहीं है, मैं सवका शासक हूँ। यहां तक ईश्वर का स्वरूप बताया है।

अब सर्वोपाधिरहित अव्यवहार्य निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप कहते हैं। यह स्वरूप मन वाणी से अग्राह्य है, केवल निर्विकल्प समाधि में ही यह अनुभव का विषय है। अहम् अनन्तः—मैं अनन्त हूँ। तीन प्रकार की अन्तता होती है देश की अन्तता, काल की अन्तता तथा वस्तु की अन्तता। मैं देश-काल-वस्तुपरिच्छेद रहित हूँ, अतः अनन्त हूँ। अहम् आनन्दः—मैं आनन्द रूप हूँ, 'आनन्दो ब्रह्म' इति श्रुतिः। सत्यबोधः—मैं सत् रूप, त्रिकाल अबाध्य नित्य हूँ, निरवयव निराकार अव्यय होने से, बोध—मैं शुद्ध ज्ञान, अनुभव रूप चैतन्य हूँ—इति ब्रह्मानुचिन्तनम्—यह ब्रह्मचिन्तन की प्रक्रिया है, श्लोक एक से लेकर छब्बीस श्लोक ब्रह्माभ्यास के लिये हैं। इनके निरन्तर निदिध्यासन से 'तत्त्वनिगमो भविष्यति' आत्मदर्शन हो जायगा ॥२५॥

अब पुनः दो श्लोकों में इसी विषय को संक्षेप में कहते हैं।

अयं प्रपंचो मिथ्यैव सत्यं ब्रह्माहमव्ययम् ।
अत्र प्रमाणं वेदान्ता गुरवोऽनुभवस्तथा ।।२६।।

अन्वय---अयम् प्रपंचः मिथ्या एव, अहम् अव्ययम् ब्रह्म सत्यम् । अत्र वेदान्ताः गुरवः तथा अनुभवः प्रमाणम् ।

अर्थ---यह प्रपंच मिथ्या ही है, मैं अव्यय ब्रह्म सत्य हूं । इसमें श्रुति, गुरुओं के वचन तथा अपना अनुभव प्रमाण है ।

व्याख्या---अयम् प्रपंचः मिथ्या एव---यह प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाला पंचभूत निर्मित नामरूप जगद् विस्तार स्वप्नवत् मिथ्या है । तो सत्य क्या है? एव—इस में कोई संशय नहीं । अहम्–मैं, प्रत्यगात्मा, इस प्रपंच का साक्षी अव्ययम्—अक्षर ब्रह्म—जगदधिष्ठान ब्रह्म सत्यम्–सत्य नित्य, त्रिकाल-अबाध्य हूं । अत्र–जगत् के मिथ्यात्व और मेरे ब्रह्मत्व होने में तीन प्रमाण है, वेदान्ताः गुरवः तथा अनुभवः प्रमाणम्—उपनिषदें, ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों की वाणी, तथा तत्वज्ञों का अनुभव प्रमाण हैं । तीनों में एकता होने से प्रमाण में एक वचन है ।।२६।।

अगले श्लोक में श्रुति प्रमाण देते हैं ।

नाहं देहो न मे देहः केवलोऽहं सनातनः ।
एकमेवाद्वितीयं वै ब्रह्मणो नेह किंचन ।।२७।।

अन्वय---अहम् देहः न, मे देहः न, अहम् केवलः सनातनः, एकमेवाद्वितीयम् वै ब्रह्मणः न इह किंचन ।

अर्थ---मैं देह नहीं हूं, न देह मेरा है, मैं एक सनातन ब्रह्म हूं, ब्रह्म एक ही अद्वितीय तत्त्व है, ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं है ।

व्याख्या—अहम् देहः न—मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर नहीं हूं, इनके मिथ्या होने से 'शरीर अपि अशरीरी एषः' इति आत्मोपनिषद् ॥१३॥ जीवन्मुक्त महात्मा शरीर धारण रखते हुए भी अशरीरी है, मे देहः नः—मेरा देह नहीं है क्योंकि आत्मा असंग है 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः। अहम् केवलः सनातनः—मैं अद्वितीय, शुद्ध, नित्य, ब्रह्म हूँ, 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतिः । ब्रह्म साक्षी चेतन शुद्ध और निर्गुण है। 'एकमेवाद्वितीयम्'—यह छान्दोग्य उपनिषद की प्रसिद्ध श्रुति है ६।२।१। ब्रह्म एक ही अद्वितीय तत्त्व है । वै—निश्चय ही

ब्रह्मणः न इह किंचन—ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। 'नेह नानास्ति किंचन' इति कठोपनिषद २।१।११ ब्रह्म में किंचिन्मात्र भी नानापन नहीं है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतिः। यह सब जगत ब्रह्म ही है। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतिः, बृहदारण्यक १।४।२, द्वैत से भय होता है । आचार्यपद वाले सद् गुरुओं द्वारा विरचित ग्रंथ उनकी वाणी है, और वह वाणी उनका अनुभव है ॥२७॥

हृदयकमलमध्ये दीपवद्वेदसारम्,
प्रणवमयमतर्क्यं योगिभि-र्ध्यानगम्यम्।
हरिगुरुशिवयोगं सर्वभूतस्थमेकम्,
सकृदपि मनसा वै चिन्तयेद्यः स मुक्तः ॥२८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ 'ब्रह्मानुचिन्तनम् सम्पूर्णम् ।

अन्वय—हृदयकमलमध्ये दीपवत्, वेदसारम्, प्रणवमयम्, अतर्क्यम्, योगिभिः ध्यानगम्यम्, हरिगुरुशिवयोगम्, सर्वभूतस्थम्, एकम् सकृत् अपि वै मनसा यः चिन्तयेत् सः मुक्तः ।

अर्थ—जो ब्रह्म हृदयकमल के बीच में दीपक की भांति प्रकाशमान है, जो वेदान्त सिद्धान्त का साररूप लक्ष्य है, ओंकार जिसका प्रतीक है, जो तर्क का अविषय है, जो हरि-गुरु-शिव के योग से प्रकाश्य है, जो सब भूतों का एक चेतन अधिष्ठान है, उस को जो एक बार भी ब्रह्माकार वृत्ति से विषय कर लेता है, वह मुक्त है ।

व्याख्या—यह ध्यान का श्लोक है, इसको पाठ के आरम्भ में पढ़ना चाहिये । हृदयकमलमध्ये दीपवत्—हृदयकमल के बीच में, विज्ञानमय कोश में दीपक की भांति प्रकाशमान, 'विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः' परमात्मा के अतिसमीप होने से यह विज्ञानमय कोश बहुत प्रकाशमान है । यही ध्यान स्थल है, इसको बुद्धिगुहा भी कहते हैं ।

वेदसारम्—सर्व वेदों के सिद्धान्तों का सार । 'वेदैरनेकैरहमेव वेद्यः' इति कैवल्योपनिषद ।२२। 'वेदैश्च सर्वैरमेहव वेद्यः' इति गीता १५।१५। सब वेदों से मैं ही जानने योग्य हूँ, सब वेदों के उपदेश का सार उस ब्रह्म को लक्षित कराना है । प्रणवमयम्—ओंकार ब्रह्म का प्रतीक है । 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इति गीता ८।१३। 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्' इति कठोपनिषद १।२।१६। यह ओंकार ही अक्षर ब्रह्म है, यह ही परम अक्षर है । अतर्क्यम्—जो युक्ति से ग्राह्य नहीं है 'अतर्क्यमणुप्रमाणात्' इति कठोपनिषद १।२।८ अतिसूक्ष्म होने से यह तर्क का विषय नहीं है ।

योगिभिः ध्यानगम्यम्—समाहितात्मा योगियों द्वारा निर्विकल्प समाधि में गम्य, साक्षात्कार योग्य **हरि-गुरु-शिवयोगम्**—हरि-अविद्या-हरण करने में समर्थ गुरु-श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु द्वारा शिव-कल्याणकारी ब्रह्मविद्या के उपदेश के योग से उपलब्ध **सर्वभूतस्थम्**—सर्वभूतों के अन्तःकरण में विशेषरूप से प्रतिम्बिवत विराजमान **एकम्**--अद्वितीय ब्रह्म, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः' इति श्वेताश्वत-रोपनिषद ६।११ एक ही आत्मा सबभूतों में ओतप्रोत है, 'एकमेवा-द्वितीयम्' इति श्रुतिः। ब्रह्म एक ही अद्वितीय तत्त्व है **सकृत् अपि**—एक बार भी वै--विद्वदनुभवप्रसिद्ध **मनसा**—अन्तःकरण की ब्रह्मा-कारवृत्ति से **यःचिन्तयेत्**—जो मुमुक्षु चिन्तन करता है, ब्रह्म का निर्वि-कल्प समाधि में विषय करता है **सः मुक्तः**—वह सदा के लिये माया-बंधनों से छूट कर मोक्ष प्राप्त करता है। एकवार ब्रह्माकारवृत्ति उदय होने पर पुनः नीचे नहीं उतरती, ब्रह्मवेत्ता आठों याम स्वरूपा-नन्द में सुखी, तृप्त रहता है॥२८॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्‌गुरु यतियतीन्द्र महामहा-मंडलेश्वर महावेदान्त केसरी श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्री विभूषित स्वामी ओंकाराश्रम जी दंडी के शिष्य तथा हरियाणानिवासी ब्रह्मकुल भूषण पंडित प्रवर हेमराज शर्मा के सुपुत्र मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्त-रत्न' द्वारा भगवान भाष्यकार के 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' नाम ग्रंथ पर हिन्दी में रचित 'श्री ओंकारी प्रदीपिका समाप्ता॥

—: :—